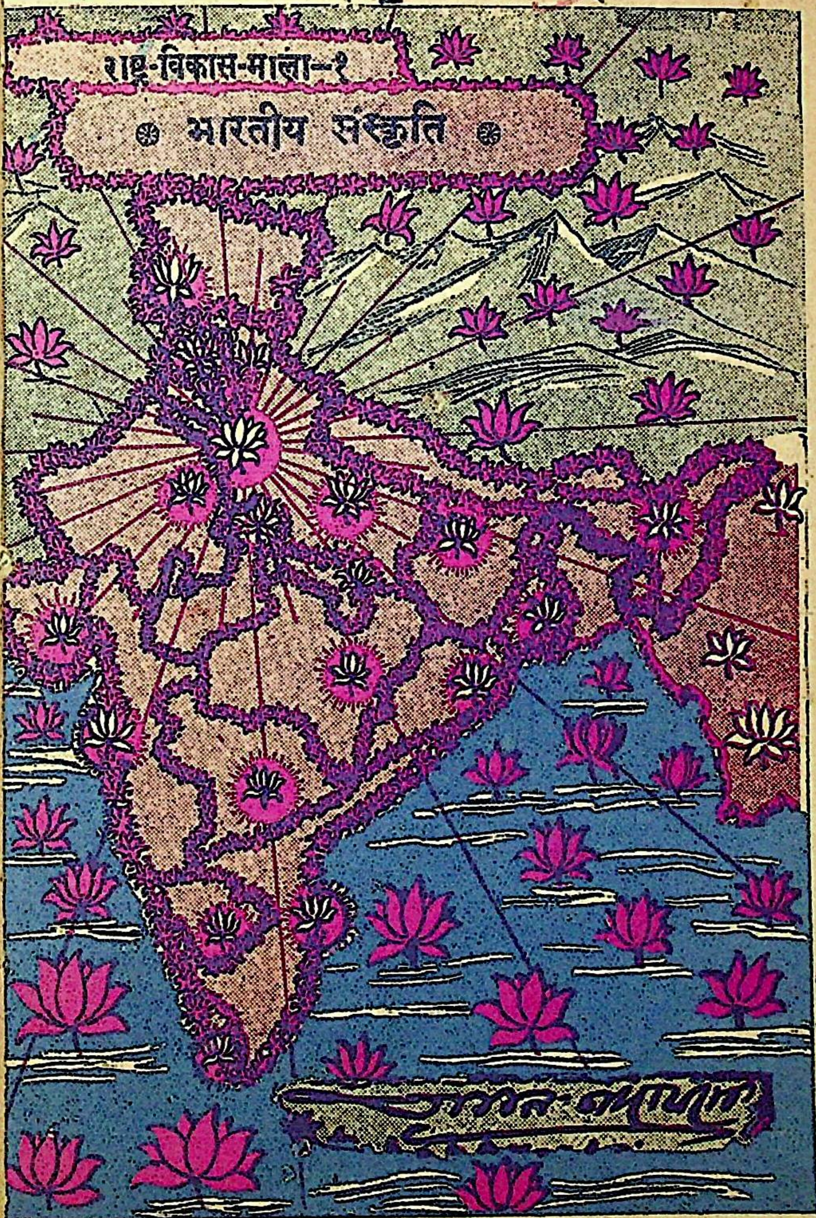

पुस्तकालय,




राष्ट्र-विकास-माला-१
भारतीय संस्कृति

प्रकाशक :—
नारायण प्रकाशन मन्दिर
थियोसॉफ़िकल सोसायटी, बनारस-१
और
नयाटोला, पटना-४ ।

पहली बार……नवम्बर १९५१……२,०२५

मूल्य आठ आने मात्र ।

मुखपृष्ठ—चित्रकला प्रेस, नयाटोला पटना,



भूमिका

यह "राष्ट्र-विकास-माला" का पहला अङ्क है। इस माला द्वारा ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं, जिनसे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न आवश्यक अङ्गों पर प्रकाश पड़ सके, जिनसे यह ज्ञात हो सके कि जीवन के विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में भारतवर्ष का कैसा अथवा क्या मानदण्ड सदा रहता आया है; अर्थात्, जिनसे यह पता चल सके कि भारतीयता से क्या अभिप्राय है, और इसलिये, जिनसे भारत-माता के सुयोग्य नागरिक बनने में सहायता प्राप्त हो सके।

बहुत दिनों के बाद, हजारों वर्षों के बाद, हमें अभी हाल में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। अस्तु, अब हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल गयी है। हमारी परतन्त्रता जाती रही। अतः अब हम भी संसार में सिर ऊंचा करके अन्य राष्ट्रों के साथ हाथ में हाथ मिलाकर चल सकते हैं। अब हम संसार में विभिन्न राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक दृष्टि से अपने उचित स्थान पर आ गये।

किन्तु, हमारी वास्तविक स्वतन्त्रता अभी हमसे कोसों दूर है। वह तो तभी प्राप्त होगी जब हम सच्ची भारतीयता को अपने जीवन में स्थान दे सकेंगे तथा अपने प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में प्रगट कर सकेंगे। सदियों क्या, हजारों वर्षों की दासता या परतन्त्रता के कारण आज हम उसे बहुत अंशों में भूल गये हैं। परन्तु, उसे पुनः स्मरण किये बिना, पुनः जाने तथा अपनाये बिना, स्वतन्त्रता का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। इसी लक्ष्य की ओर ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने के लिये यह माला निकाली जाती है।

यह विषय कितने महत्त्व का है, उसका वर्णन नहीं किया जा

सकता। इसके बारे में जो-कुछ कहा जाय थोड़ा है। यही तो राष्ट्रीय जीवन का मूल आधार ठहरा। फिर. इसकी उपेक्षा करके राष्ट्रीयता का यथेष्ट निर्माण कैसे हो सकता है?

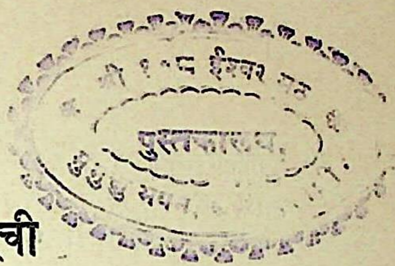
अस्तु, आज हमारे स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में इसकी विशेष आवश्यकता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर अब हमारा देश स्वभावतः राष्ट्र नव-निर्माण की चेष्टा में लगा है। अतः आज विशेष रूप से सतर्क होकर इस बात के देखने की आवश्यकता है कि यह निर्माण यथेष्ट भारतीयता की भित्ती पर हो। अन्यथा, इस प्रारम्भिक अवस्था में थोड़ी भी भूल करने का बहुत बुरा परिणाम आगे चलकर निकलेगा।

अस्तु, प्रस्तुत अङ्क में भारतीय संस्कृति पर कुछ भाव तथा विचार व्यक्त किये जाते हैं। ये भाव तथा विचार कदापि अन्तिम नहीं समझे जा सकते। इनके सम्बन्ध में विद्वत्ता, निपुणता अथवा निर्दोषित का कुछ दावा नहीं किया जाता। एक साधारण नागरिक की हैसियत से, एक दृष्टि-कोण से देखने से, भारतीय संस्कृति के जो रूप दृष्टि-गोचर हो सके हैं, उन्हें यहाँ प्रगट किया जाता है। आशा है पाठक-गण को कुछ-न-कुछ लाभ इनके पढ़ने से अवश्य होगा।

सबके हृदय में सच्ची भारतीयता का भाव जाग उठे—इसी लक्ष्य से, इसी हार्दिक प्रार्थना के साथ, इस माला का प्रकाशन किया जाता है।

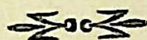
काशीजी,
ता० ३–११–५१।

जगत नारायण



विषय-सूची

भारतीय संस्कृति



१. संस्कृति से अभिप्राय

संस्कृति एक बहुत सरल शब्द है। यह व्यापक रूप से व्यवहार में भी है। परंतु, इसका भाव व्यक्त करना सरल नहीं। यह एक कठिन पारिभाषिक शब्द है। अस्तु, नीचे इसका कुछ भाव अत्यन्त सरल रूप से व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है।

आज विज्ञान ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति का एक व्यापक नियम विकास का है। हर मनुष्य, हर प्राणी, हर वस्तु, का विकास सदैव प्राकृतिक रूप से होता रहता है। अस्तु, विज्ञान ने तो केवल भौतिक द्रव्यों अथवा रूपों के ही विकास का पता लगाया है। किन्तु, वास्तव में, बाहरी रूपों के साथ-साथ आभ्यान्तरिक जीवन का भी विकास होता रहता है। यह भी प्राकृतिक नियम है।

अस्तु, संस्कृति से यह पता चलता है कि हम जीवन के किस स्तर पर हैं, हमारी आभ्यान्तरिक सत्ता विकास की किस गहराई अथवा ऊँचाई तक पहुँच चुकी है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति हमारी जीवात्मा के विकास के स्तर, हमारे हृदय की प्रगति, का द्योतक है। अर्थात्, इससे यह पता चलता है कि हमारी चेतना कहाँ तक फैल चुकी है।

प्रत्यक्ष में यह नम्रता, कोमलता, सरलता, सहृदयता, श्रद्धालुता, दयालुता, सूक्ष्मता, सहिष्णुता, उदारता, आदि रूपों में व्यक्त होती है। कला-कौशल इसका एक प्रधान लक्षण है। जिसने जितनी ही अधिक उन्नति एवं प्रवीणता इन सद्गुणों में प्राप्त की है, वह संस्कृति के उतने ही ऊँचे स्तर पर है।

---

२. संस्कृति, सभ्यता एवं शिक्षा

संस्कृति, सभ्यता एवं शिक्षा—इन तीनों का भेद कुछ अंशों में भी समझ लेना आवश्यक है। यह भी कुछ सहज काम नहीं।

अस्तु, पहले संस्कृति एवं सभ्यता की बात लीजिये। ये दोनों ही मनुष्य की प्रगति एवं उन्नति के सूचक हैं। प्रधान अन्तर इन दोनों में यह है कि जहाँ संस्कृति से आभ्यान्तरिक उन्नति का पता चलता है, वहाँ सभ्यता से बाह्य उन्नति का। रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज़, आदि सभ्यता के स्तर के द्योतक हैं। बैलगाड़ी, रेलगाड़ी तथा हवाई जहाज़, तीन भिन्न कोटि की सभ्यताओं के सूचक हैं।

संस्कृति एवं सभ्यता की प्रगति कभी-कभी एक साथ होती है। किन्तु, हमेशे ऐसा नहीं होता। एक आदमी जो बहुत झुककर प्रणाम करता है तथा मीठी-मीठी बातें करता है, हो सकता है कि हृदय में छल-कपट रख कर ऐसा करता हो। ऐसा मनुष्य सभ्यता में तो ऊँचा समझा जायगा, किन्तु संस्कृति में खोटा। फिर, हो सकता है कि एक दूसरा मनुष्य बाहरी शिष्टाचार के नियमों से अनभिज्ञ हो, किन्तु हृदय का सच्चा तथा दयालु हो। वह पहले मनुष्य की अपेक्षा सभ्यता में तो खोटा समझा जायगा, किन्तु संस्कृति में खरा।

इसी तरह, संस्कृति एवं शिक्षा में भी भेद है। हो सकता है कि एक आदमी बहुत विद्वान, पर क्रूर तथा कट्टर हो; तथा एक दूसरा आदमी अनपढ़, पर दयालु हो, उदार हो। उस हालत में दूसरा आदमी पहले की अपेक्षा शिक्षा में तो बहुत पीछे, परन्तु संस्कृति में बहुत आगे होगा। संस्कृति एवं शिक्षा में कुछ वैसा ही अन्तर है जैसा विज्ञान एवं कला में।

———

३. देश अथवा राष्ट्र का व्यक्तित्व

राष्ट्रीय संस्कृति का रहस्य समझने के लिये पहले यह समझना आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र का भी अपना एक निराला व्यक्तित्व होता है। व्यक्तित्व का सम्बन्ध हम बहुधा एक-एक मनुष्य से ही समझते हैं। किन्तु, मनुष्यों के संगठित समूहों—जैसे राष्ट्र, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, आदि—का भी अपना-अपना व्यक्तित्व होता है।

पहले एक मनुष्य को ही लीजिये। सिर, मुख, आँख, कान, हाथ, पाँव, आदि उसके अनेक अंग होते हैं। और हर अंग की बनावट में असंख्य सेल अथवा जीवाणु भाग लेते हैं। हर सेल का जीवन अलग होता है। किन्तु, सबों के सुमेल से शरीर बनता है, जिसके लिये ही ये सब जीते तथा कार्य करते हैं।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, प्रान्त, आदि राष्ट्र के विभिन्न अंग होते हैं। और इनमें से प्रत्येक अंग अनेकों मनुष्यों के समूह से मिलकर बना होता है। अर्थात्, मनुष्य मानो राष्ट्र-रूपी व्यक्ति के समष्टि-शरीर के सेल सदृश हुए।

फिर व्यक्ति की ही नाईं राष्ट्र की उत्पत्ति तथा नाश, उत्थान तथा पतन भी होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी करनी के लिये ज़िम्मेवार होता है और उसका फल उसे भुगतना पड़ता है। वैसे ही प्रत्येक राष्ट्रको भी अपने सामूहिक कर्म का अच्छा-बुरा फल भुगतना पड़ता है।

अस्तु, मनुष्य का जन्म कुछ विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिये होता है। उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का भी निश्चित लक्ष्य होता है, जिसकी पूर्ति के लिये उसका अस्तित्व रहता है। जब-तक उस लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती, तब-तक वह राष्ट्र जीवित रहता है।

———

४. प्रत्येक राष्ट्र की विशिष्ट संस्कृति

प्रकृति में रूप तथा जीवन का अनिवार्य संबंध है। कोई रूप ऐसा नहीं है जिसमें जीवन न हो। वैसे ही किसी जीव का स्वतंत्र अस्तित्व बिना उपयुक्त रूप के नहीं हो सकता, जिसके द्वारा वह जीव प्रगट होता तथा कार्य करता है।

यह नियम एक छोटे कण से लेकर बड़े ब्रह्माण्ड तक एक भाव से लागू होता है। जिस कण को हम बहुधा निर्जीव समझते हैं, उसका भी अपना जीवन है। उसका जीव वही है जो उसके अणु-परमाणुओं को सुसंगठित विधि से उस कण के रूप में बाँधे रहता हैं।

इसी तरह प्रत्येक राष्ट्र का भी जीवन होता है, जिसके कारण वह जीवित रहता है तथा जिसके आधार पर उसका विकास होता है। फिर, जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने ढंग का निराला होता है—कोई दो मनुष्य एक-से नहीं, वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र भी अपने ढंग का निराला होता है—कोई दो राष्ट्र एक-से नहीं।

यदि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के लोगों के राष्ट्रीय जीवन पर ग़ौर किया जाय, तो उनकी विलक्षणताएं साफ़-साफ़ देखने में आयेंगी। जैसे, हम अपने देश के लोगों को बहुधा सुस्त पर दार्शनिक भाव वाले पाते हैं; किन्तु, अँग्रेज़ लोगों में सक्रियता तथा चंचलता बहुत पायी जाती है। ऐसे ही किन्हीं दो राष्ट्रों में भेद पाये जायेंगे।

ऐसा क्यों होता है? भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की संस्कृति के भेद के कारण। जैसे मनुष्य की विचित्रता का आधार उसकी व्यक्तिगत संस्कृति होती है, जैसा पहले बतलाया गया है, वैसे ही राष्ट्रीय विचित्रता का मूल आधार राष्ट्रीय संस्कृति होती है। यह बड़े महत्व का रहस्य है।



५. संस्कृति ही राष्ट्रीयता का मूल आधार

अभी देखा गया कि राष्ट्रीयता का संस्कृति से कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस तथ्य को भली-भाँति समझना बहुत आवश्यक है। इसके बिना न तो हम अपने राष्ट्र की यथेष्ट सेवा कर सकते हैं, न दूसरे राष्ट्र को समझ सकते हैं, उसकी सेवा तो दूर रहे।

आज राष्ट्रीयता की उन्नति के अनेक आयोजन संसार में प्रचलित हैं। किन्तु, ठीक से समझ कर राष्ट्रीय नीति तथा कार्य-क्रम निश्चित किये बिना, राष्ट्र की उन्नति तथा हित के नाम पर राष्ट्र का बहुत अहित भी होता है, जो उसके पतन का कारण बनता है। इस प्रकार सद्-भिलाषा रखते हुए भी, यथेष्ट समझदारी न होने के कारण, लोग बहुधा अपने ही हाथों राष्ट्रहित के नाम पर राष्ट्र की जड़ में कुल्हाड़ी मारते हैं।

आज बहुत लोगों की धारणा है कि राष्ट्र अथवा समाज की मुख्य समस्या रोटी की है। इसलिये अन्य किसी बात पर कुछ ध्यान न देकर ऐसे लोग येन-केन-प्रकारेण रोटी की समस्या हल करना चाहते हैं। किन्तु, समस्या कुछ सुलझती तो दीख नहीं पड़ती; दिनों-दिन और अधिक उलझती ही जाती है।

हाँ; रोटी की समस्या अवश्य प्रबल समस्या है। इसकी अव-हेलना कदापि नहीं की जा सकती है। किन्तु, मनुष्य केवल देह ही नहीं, और भी बहुत कुछ है। उसके उन अन्य अंगों की भी अवहेलना ठीक नहीं। रोटी की समस्या के साथ-साथ जब उन पर भी यथेष्ट ध्यान दिया जायगा तभी समस्या सुलझ सकेगी; अन्यथा, कदापि नहीं।

अन्य बातों में संस्कृति ही सर्व-प्रथम महत्व की वस्तु है। अतः इसे ही अपने जीवन तथा उन्नति का मूल आधार बनाना चाहिये।

---

६. संस्कृति के बिना स्वतन्त्रता निरर्थक

अस्तु, राष्ट्रीय जीवन के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से नोट करने की यह है कि संस्कृति के बिना स्वतन्त्रता बिल्कुल निरर्थक है। जिस राष्ट्र ने राजनीतिक स्वतन्त्रता रखते हुए अथवा प्राप्त करके निजी संस्कृति को नहीं अपनाया, वह वास्तव में स्वतन्त्र नहीं। वह किसी-न-किसी रूप में परतन्त्र बना ही रहता है।

फिर, अपनी संस्कृति पर ध्यान न देकर राष्ट्र के निर्माण तथा उन्नति की जो व्यवस्था की जाती है, उसका दुष्परिणाम सहज में समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये किसी मनुष्य को ले लीजिये। उसकी यथेष्ट उन्नति कैसे हो सकती है? दूसरों के पसन्द उस पर थोप कर? कदापि नहीं। यह तभी सम्भव है जब उसके स्वभाव तथा प्रवृत्ति अथवा रुचि पर विशेष ध्यान दिया जाय। अन्यथा, उसके जीवन में अनेक प्रकार की भीषण उलझनें पैदा हो जाती हैं, जिनसे पिण्ड छुड़ाना बहुत कठिन हो जाता है।

उसी प्रकार, यदि किसी राष्ट्र को उसकी राष्ट्रीय संस्कृति पर ध्यान न देकर अन्य प्रकार से चलाने की कोशिश की जाय, तो उसके जीवन में भी बड़ी गड़बड़ी आ जाती है। उसका रूप विकृत हो जाता है तथा जीवन असफल। आधे तीतर आधे बटेर का-सा उसका हाल हो जाता है। वह कहीं का नहीं रहता।

उसकी यथेष्ट उन्नति तभी हो सकती है जब उसकी निजी संस्कृति को ही उसके जीवन का मूल आधार बनाया जाय। तभी वह अपना निरालापन यथेष्ट रूप से प्रगट कर सकता है तथा संसार के प्रति अपना यथेष्ट सन्देशा सुनाकर अपना जीवन सफल कर सकता है।

---

७. अन्य राष्ट्रों के साथ आदान-प्रदान

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका कदापि यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक राष्ट्र केवल अपनी ही धुन में मस्त रहे। अन्य राष्ट्रों का कुछ ख्याल न करे। ऐसा करना नितान्त अनुचित होगा।

देखिये, हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्ग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा एक-दूसरे के प्रति उचित आदान-प्रदान करते हुए शरीर के जीवन-यापन में सहायक बनते हैं। उसी प्रकार संसार के सभी राष्ट्र एक-दूसरे के साथ अर्थात् मनुष्य-मात्र के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध में सम्बद्ध हैं। अतः प्रत्येक राष्ट्र का यह परम कर्त्तव्य है कि अन्य सभी राष्ट्रों के साथ वह मिल कर चले तथा मनुष्य-मात्र के हित का भाव सदा अपने सम्मुख रखे।

और, आज तो समय यह पाठ पढ़ाने पर तुला हुआ जान पड़ता है। जब-तक सभी राष्ट्र मनुष्य-मात्र को एक परिवार मानकर उसके हित का भाव सर्व-प्रथम अपने सामने रख कर नहीं चलते, तब-तक संसार में कदापि स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

अस्तु, वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण संसार आज इतना छोटा हो गया है कि कोई राष्ट्र अन्य राष्ट्रों का ध्यान न रखते हुए बिल्कुल अकेला रह ही नहीं सकता। अतः विभिन्न राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक आदान-प्रदान होना तो आवश्यक ही ठहरा। प्रत्येक राष्ट्र को प्रत्येक दूसरे राष्ट्र से कुछ सीखना है और उसे कुछ सिखाना भी है। किन्तु, हर हालत में ऐसा आदान-प्रदान प्रत्येक राष्ट्र की निजी संस्कृति के ही मूल आधार पर होना आवश्यक है; अन्य किसी आधार पर नहीं।

———

८. दूसरों की नक़ल का अर्थ पराधीनता

हाँ; इस सम्बन्ध में एक बात पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। आदान-प्रदान से अभिप्राय दूसरों की नक़ल करना नहीं है। नक़ल का तो सीधा अर्थ है परतन्त्रता, पराधीनता—दूसरों के दबाव में पड़कर पराधीनता नहीं, स्वेच्छा-पूर्वक पराधीनता, जो और अधिक भयानक वस्तु है और इसलिये सर्वथा त्याज्य है।

जब दूसरे दबाव डालकर किसी राष्ट्र को पराधीन बनाते हैं, तो पराधीन राष्ट्र अपनी दासता समझता रहता है और इसलिये अवसर ढूँढ़कर तथा अवसर बनाकर उस दासता से मुक्त होने का प्रयत्न भी करता है और यथेष्ट पराक्रम तथा त्याग के बाद इसमें सफल भी होता है। किन्तु, जब स्वेच्छा-पूर्वक दूसरे की नक़ल की जाती है, तो इससे निजी आन्तरिक विकास तो कुछ होता नहीं, स्वेच्छा-पूर्वक दूसरे की छाप अपने ऊपर जमायी जाती है।

इस प्रकार, अज्ञानता-वश जान-बूझकर सांस्कृतिक पराधीनता में अपने को डाला जाता है। किन्तु, इस हालत में पराधीनता का भाव तो सामने रहता नहीं। इसलिये ऐसी पराधीनता राजनीतिक पराधीनता से कहीं अधिक स्थायी तथा ख़तरनाक होती है।

अतः बड़ी सतर्कता तथा सावधानी से ऐसी पराधीनता से बचे रहना अत्यावश्यक है। दूसरों में जो बातें अच्छी हों, उन्हें हमें सीखना अवश्य चाहिये। किन्तु, आँख मूँदकर उनकी नक़ल नहीं करनी चाहिये। उनकी अच्छी बातों को अपनी संस्कृति के मूल आधार पर उसके साथ मेल मिलाकर उचित स्थान देने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु, नक़ल हर्गिज़ नहीं। यह स्वतंत्रता का घोर दुश्मन है।

———

६. निजी संस्कृति जानने की आवश्यकता

आज स्वतन्त्रा की प्रचण्ड लहरें समस्त संसार में फैली हैं तथा उथल-पुथल मचा रही हैं। उसी के फल-स्वरूप अभी हाल में अनेकों राष्ट्र परतन्त्रता से मुक्त हुए हैं और मुक्त होते जा रहे हैं। हमें भी बहुत त्याग तथा यातना के बाद समय के इस प्रचण्ड प्रवाह के ही सहारे अभी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है।

यह बड़े गौरव की बात अवश्य है। हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। हमारी राजनीतिक दासता की बेड़ी कट गयी। हम संसार के सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों के बराबरी में अपने स्थान पर पहुँच गये।

किन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी अभी असली स्वतन्त्रता से हम बहुत दूर हैं। जब-तक हम भारतीय संस्कृति को भली-भाँति समझ-कर उसे अपने जीवन में स्थान नहीं देते तथा उसी के अनुकूल कार्य करना नहीं सीख लेते, तब-तक स्वतन्त्रता का कुछ विशेष अर्थ नहीं। अतः अपनी स्वतन्त्रता सार्थक बनाने तथा अपनी यथेष्ट उन्नति के लिये यह परम आवश्यक है कि सबसे पहले हम भारतीय संस्कृति का विशिष्ट रूप पहचानने की कोशिश करें।

आज हमारे लिये यह एक बड़ी विकट समस्या है, क्योंकि सदियों क्या, हज़ारों वर्षों की पराधीनता में हमें इसे बिल्कुल भूल जाना पड़ा है। उसकी जगह पाश्चात्य सभ्यता की गहरी छाप हमारे ऊपर जमी है जिससे पिण्ड छुड़ाना बहुत आवश्यक है।

अतः, अपनी संस्कृति का जानना हमारे लिये नितान्त आवश्यक है। उसे जाने बिना हम एक डेग भी उचित रास्ते पर नहीं चल सकते।

---

१०. भारतीय संस्कृति का निराकरण

अस्तु, प्रश्न यह है कि भारतीय संस्कृति का पता कैसे लगाया जाय। इसके लिये कुछ रास्ता ढूँढ़ निकालना नितान्त आवश्यक है।

आज भारतीय संस्कृति पर ज़ोर देने वाले आदमी अनेक हैं। किन्तु, यदि ग़ौर से देखा जाय, तो साफ़ मालूम होगा कि भारतीय संस्कृति से सबका एक ही बात से अभिप्राय नहीं है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की धारणा के अनुकूल इसके भिन्न-भिन्न अभिप्राय हैं। अतः यहाँ भी बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। अन्यथा, जैसे धर्म के नाम पर बहुधा लोग घोर अधर्म किया करते हैं, वैसे ही संस्कृति के नाम पर भारतीयता का भी हनन हो सकता है।

अस्तु, इसके पता लगाने का सुगम उपाय तो यह जान पड़ता है कि सरकार इसके लिये विज्ञप्ति प्रकाशित कर दे कि एक निश्चित तिथि के अन्दर—हद एक या दो महीने के अन्दर—जो लोग भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करना चाहें, किसी निश्चित अधिकारी के पास लिख भेजें। पत्र-पत्रिकाओं से भी इसके लिये अपील की जाय। इस प्रकार इस विषय पर सुगमता से बहुत-सी रायें इकट्ठी हो जायेंगी। फिर एक योग्य कमेटी द्वारा जो बातें उन सबों में एक हों, उन्हें निकाल कर उनका व्यापक प्रचार किया जाय।

किन्तु, जब-तक सरकार द्वारा ऐसी कुछ योजना प्रकाशित न हो, तब-तक ठहरे रहने की भी ज़रूरत नहीं। इस बीच में जिनसे जहाँ-तक हो सके स्वेच्छा-पूर्वक ही अपनी राय व्यक्त करने की कोशिश करें। इस अङ्क के प्रकाशित करने का मुख्य लक्ष्य यही है।

---

११. भारतीय संस्कृतिकी अचिंत्य प्राचीनता

अस्तु, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक बातें बड़े महत्त्व की हैं। उनमें से एक है इसकी अचिन्त्य प्राचीनता। आज सभी देशों के मुक़ाबले भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जिसकी प्राचीनता का कोई पता नहीं बता सकता।

इसके सामने संसार के अनेक हिस्सों में भिन्न-भिन्न समय में बड़े-बड़े देश उत्थान के बड़े ऊँचे शिखर तक उठे। वहाँ बड़ी अच्छी सभ्यताएँ स्थापित हुईं। किन्तु, एक-एक करके वे सब-के-सब समुद्र की ऊँची लहरों के नीचे अथवा भूगर्भ की गोद में जा छिपे। उनका आज कहीं पता तक नहीं मिलता। भूगर्भ-शास्त्र के प्रयोगों तथा खोदाइयों द्वारा पृथ्वी-तल के बहुत नीचे से प्राप्त भाँति-भाँति की वस्तुओं द्वारा उनकी भव्य सभ्यता का कुछ अनुमान किया जाता है।

किन्तु, भारतवर्ष अतीत काल से संसार के सर्व-श्रेष्ठ हिमालय पर्वत का मुकुट धारण किये तथा तीन ओर समुद्र की लहरों से घिरे ज्यों का त्यों विद्यमान है। और आगे कब-तक जीवित रहेगा, इसका भी कुछ अनुमान नहीं किया जा सकता।

प्रकृति देवी ने भारतवर्ष को क्यों ऐसा गौरव प्रदान किया है? इसका कुछ विवरण आगे मिलेगा। किन्तु, तथ्य यह है कि आज संसार में इससे पुराना दूसरा कोई देश नहीं। धन्य हैं हम जिन्हें ऐसी माता की सन्तान बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

इससे यह भी सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय संस्कृति भी वैसी ही पुरानी होगी। इससे इसकी महत्ता और भी अधिक गौरवान्वित हो जाती है।

———

१२. भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू-संस्कृति

अस्तु, पहले यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति तथा हिन्दू-संस्कृति में क्या संबंध है। दोनों एक ही हैं अथवा दो? यदि दो हैं, तो इनका पारस्परिक संबंध क्या है?

एक दृष्टि-कोण से ये दोनों एक ही हैं, दो नहीं। भारतवर्ष तथा भारतीय संस्कृति जैसा ही हिन्दू-धर्म भी पुराना है। और, अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दू-धर्म इतना व्यापक है कि अन्य धर्मों की नाईं इसकी कोई परिभाषा दी नहीं जा सकती।

यह व्यापकता तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि जो आस्तिक अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व मानने वाला हो और जो नास्तिक अर्थात् न मानने वाला हो, ये दोनों हिन्दू हो सकते हैं और हैं। भला किस दूसरे धर्म में ऐसी उदारता तथा व्यापकता पायी जाती है?

अस्तु, इस दृष्टि से भारतीय एवं हिन्दू संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं। किन्तु, यह बात तभी तक ठीक थी जब तक हिन्दू-धर्म में व्यावहारिक रूप से उपरोक्त उदारता बरती जाती थी।

किन्तु, आज तो हिन्दू-धर्म अन्य धर्मों की नाईं एक धर्म है। बहुत तरह की संकीर्णताएँ इसके भीतर घुस गयी हैं। ऐसी हालत में भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति से भिन्न करना ही उपयुक्त है।

वास्तव में, भारतवर्ष हिन्दू-धर्म की संस्थापना के पहले से मौजूद था और इसलिये भारतीय संस्कृति को हिन्दू-संस्कृति से भी पुरानी समझनी चाहिये। भारतीय संस्कृति में हिन्दू-संस्कृति के अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। अस्तु, अब संक्षेप में भारतीय संस्कृति के एक-एक रूप पर विचार करना चाहिये।

---

१३. अपार उदारता

भारतीय संस्कृति की एक प्रधान विशेषता अपार उदारता है। इसका कोई अन्त नहीं। अतः इसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता।

इसी उदारता का यह फल है कि हिन्दू-धर्म जिसका उद्भव एवं विकास भारत-माता की गोद में हुआ, उसकी कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। जो ईश्वर को माने, वह भी हिन्दू; जो न माने, वह भी हिन्दू! जो वेदों को माने, वह भी हिन्दू; जो वेदों का खंडन करे, वह भी हिन्दू! खुलासा यह कि जो अपने को हिन्दू कहना चाहे, वही हिन्दू! इसमें कोई रोक-टोक नहीं कर सकता।

यहाँ के छः दर्शन-शास्त्र प्रसिद्ध हैं। उनके वर्णन का यहाँ स्थान नहीं। अस्तु, उनमें से कोई ईश्वर का अस्तित्व मानता है, कोई नहीं मानता। किन्तु, उन सभी दर्शनों को यहाँ समान स्थान, समान-मान्यता प्राप्त है। वाह! कैसी विचित्र उदारता!

आज हम उस उदारता को बिल्कुल भूल बैठे हैं। किन्तु, फिर भी इसका भाव हमारे नस-नस में ऐसा प्रवेश कर चुका है कि हम आज भी, अपनी वर्तमान संकीर्णता के अन्दर भी, इसका आभास देख सकते हैं। किसी एक परिवार को ले लीजिये। हो सकता है कि उसका एक व्यक्ति विष्णु भगवान् का उपासक हो, दूसरा शिवजी का, तीसरा शक्ति का। हो सकता है कि उसी में एक निराकार ब्रह्म का उपासक हो, और एक अनीश्वर-वादी नास्तिक हो!

आज भी ये सभी विभिन्न मत, सम्प्रदाय, विश्वास, विचार एवं भाव के आदमी एक ही परिवार के अन्दर रह सकते हैं और यत्र-तत्र वास्तव में हैं भी। अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल सभी व्यक्ति पूजा-पाठ, उपासना आदि किया करते हैं। इसे कोई बुरा नहीं सम-

झता। क्या इसमें अपार उदारता का भाव नहीं झलकता ?

किन्तु, खेद कि इसके व्यवहार का घेरा हमने अत्यन्त संकीर्ण बना दिया है। जो लोग अपने को हिन्दू कहते हैं, उनके प्रति तो हम .खुशी से ऐसा व्यवहार करते हैं। किन्तु, जो लोग इस घेरे से बाहर हैं, उन्हें बहुधा म्लेच्छ कह कर उनकी ओर हम घृणात्मक भाव से देखा करते हैं। उन्हें अपना नहीं समझते।

अपनी जाति, अपने धर्म, के भीतर भी हमने आज अनेक छोटे छोटे विभाग बना रखे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, भूमिहार, कायस्थ, कुर्मी ग्वाला; बिहारी, बंगाली, गुजरात, मराठी, पंजाबी, मद्रासी; आदि अनेकानेक प्रकार की छोटी-छोटी जमातों के स्वार्थ में आज हम बे-तरह फँसे पड़े हैं, बहुत नीचे गिर गये हैं।

इस प्रकार हमारी अपार उदारता संकीर्ण घेरे के अन्दर सीमित हो गयी है। क्या उस असीम उदारता का कदापि यह आशय हो सकता था अथवा हो सकता है कि उसे ऐसे संकीर्ण घेरे के भीतर सीमित किया जाय ? कदापि नहीं। उसका प्रत्यक्ष अर्थ है असीम उदारता व्यापक रूप से बरतना—मनुष्य-मात्र के प्रति, सभी धर्मों तथा विचारों के लोगों के प्रति, केवल अपने ही लोगों के प्रति नहीं।

जब से हमारे जीवन से यह उदारता हटने लगी, तभी से हमारा ह्रास होने लगा। अस्तु, बहुत यातनाएँ भुगतने तथा बहुत प्रयत्न एवं आत्म-त्याग के बाद अब हमें पुनः स्वतंत्रता प्राप्त हुई है; अर्थात्, अब पुनः उत्थान की ओर हमने पाँव बढ़ाया है। ऐसे अवसर पर अपनी संस्कृति के इस अनुपम रत्न, असीम उदारता, को हमें पुनः अपने जीवन में दृढ़ स्थान देना चाहिये। हमारे देश तथा संसार के कल्याण के लिये ऐसा करना अनिवार्य है।

———

१४. सभी अपने, पराया कोई नहीं

भारतीय संस्कृति की दूसरी प्रधान विशेषता इसकी सार्वभौमिकता अथवा सार्वग्राह्यकता है। मनुष्य-मात्र को कौन कहे, यहाँ तो प्राणि-मात्र की एकता पर सदैव ज़ोर दिया गया है। आज भी हर समझ-दार आदमी हृदय से प्रार्थना करता है—

"दैवीः स्वस्तिरस्तु नः। स्वस्तिर्मानुषेभ्यः। ऊर्ध्वं जिगातु भेष-जम्। शं नो अस्तु द्विपदे। शं चतुष्पदे।"

अर्थात्, "दैवी आशीर्वाद हमें प्राप्त हो। मनुष्यों के बच्चों पर आशीर्वाद हो। भेषज अर्थात् वनस्पति दैवी गुण-गान करती हुई ऊपर की ओर बढ़े। हम दो पाँव वाले सुखी हों। चौपाये सुखी हों।" दूसरे शब्दों में, सबका भला हो।

कैसी सुन्दर यह प्रार्थना है! इसमें न केवल मनुष्य-मात्र के हित के लिये प्रार्थना की जाती है, बल्कि पशु-वर्ग के हित के लिये भी, वन-स्पति-वर्ग के हित के लिये भी। क्यों न ऐसा हो? जहाँ व्यापक रूप से लोगों को "वसुधैव कुटुम्बकम्" का पाठ पढ़ाया गया था, वहाँ प्राणि-मात्र के साथ आत्मीयता क्यों न प्रगट की जाय? वहाँ बिना किसी भेद-भाव अथवा सीमा के, सब के हित के लिये हृदय से प्रार्थना क्यों न की जाय?

खेद है कि यह व्यापक भाव भी हम आज बिल्कुल भूल बैठे हैं। घोर संकीर्णता ने हमारे अन्दर घर बना लिया है। पर आवश्यकता है फिर उसे स्मरण करने तथा जगाने की। तभी हम अपना यथेष्ट स्वरूप व्यक्त कर अपने महान् कर्त्तव्य के पालन करने में समर्थ हो सकेंगे। तभी हम पुनः समस्त संसार की यथेष्ट सेवा कर सकेंगे।

———

१५. अतिथि-सत्कार

इस व्यापक आत्मीयता का एक फल यह था कि यहाँ का अतिथि सत्कार प्रसिद्ध था। अतिथि से अभिप्राय है अनायास किसी आदमी के आ जाने से। ऐसे आगंतुक पुरुष का अपने यहाँ घूमते-फिरते आ जाना लोग बहुत गौरव अथवा प्रतिष्ठा की बात समझते थे। ऐसे अ पुरुष का आदर-सत्कार, आव-भगत करना लोग बहुत पुण्य कृति समझते थे। वाह! कैसी सुन्दर यह प्रणाली थी!

आज से कुछ दिनों पहले तक यह नियम यहाँ भली-भाँति निवाह जाता था। यहाँ के जन-साधारण में यह भाव अच्छी-तरह विद्यमान रहता था। इसे देख अंजान विदेशी लोग आश्चर्य करते थे।

हाल तक देहातों में जहाँ पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव बहुत नहीं पड़ने पाया था, ऐसा भाव देखने में आता था। घूमते-फिरते शाम को किसी के द्वार पर चले जाने पर वह ख़ुशी से अपने यहाँ रहने का स्थान देता तथा भोजन कराता। उसके यहाँ रहकर उसका भोजन न करना ही उसे बुरा लगता। वह आग्रह करके भोजन कराता।

अस्तु, अब तो बात बहुत बदल गयी है। अब तो किसी यात्री के अनायास अपने यहाँ आ जाने पर उसका आदर-सत्कार तो दूर रहे, सबसे पहले लोग उसे सशंक दृष्टि से देखेंगे कि न जाने यह कौन है और क्या कर बैठेगा। इसलिये यथा-शक्ति उसे हटाने की ही चेष्टा करेंगे। इस प्रकार से बहुत लोग धोखा भी खा चुके हैं।

जो हो, अतिथि-सत्कार सदा हमारी एक प्रधान विशेषता रहता आया है। और फिर इसे हमें अपने जीवन में पहले-सा ही स्थान देना चाहिये। तभी हमारी उत्कृष्टता व्यक्त होगी।

———

१६. घट-घट में है साईं बसता

उपरोक्त असीम उदारता एवं सार्वभौमिकता का मूल आधार आध्यात्मिकता अर्थात् यह तथ्य है कि "घट-घट में है साईं बसता"।

गीता में कृष्ण भगवान कहते हैं:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति ।

—गीता, अ० १८, श्लोक ६१ ।

अर्थात्, "ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में बैठा है।"

उस सत्ता को गोस्वामी तुलसीदास ने "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" बतलाया है। भक्त प्रह्लादजी ने उसी के बारे में अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा था—

"हममें तुममें खड्ग खम्भ में घट-घट व्यापे राम।"

अन्य भक्तों ने तथा सभी धर्मों ने इस सत्य को अन्य-अन्य शब्दों द्वारा प्रगट किया है। किन्तु, उनके देने का यहाँ स्थान नहीं।

अस्तु, भारतीय संस्कृति में यह तथ्य एक बहुत मुख्य स्थान रखता है। अनुभवी पुरुष आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सबके भीतर स्थित उस एक आत्म-सत्ता को भली-भाँति देख सकते थे। इस दैवी सार्वव्यापकता का भाव भारतीय जनों के नस-नस में इस प्रकार प्रवेश कर गया था कि वे सभी प्राणियों के हृदय में, सभी पदार्थों की तह में, उसी एक सत्ता का आभास देखते थे। और सभी वस्तुओं में साईं अर्थात् ईश्वर की सत्ता का आभास सच्चे दिल से मानकर सबके सामने नत-मस्तक होते थे। इस सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं:—

सिया-राम-मय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

इस प्रकार वे कंकड़-पत्थर आदि विभिन्न वस्तुओं की पूजा कर लगे। इसमें सन्देह नहीं कि इस भावना में दुरुपयोग का बहुत भ है और बिना समझे-बूझे लकीर का फ़क़ीर बन कर ऐसा करने भाँति-भाँति के घातक अन्ध-विश्वासों के लोग शिकार बन गये हैं।

यह अन्ध-विश्वास अवश्य बहुत बुरी वस्तु है। इसका परित्या नितान्त आवश्यक है। इसे त्यागे बिना कोई मनुष्य वास्तविक उन्न नहीं कर सकता। फिर भी, इस अन्ध-विश्वास की तह में एक मह सत्य छिपा है, जो उत्कृष्टता का प्रबल साधन है, आध्यात्मिकता का मू आधार है। उसे पुनः व्यक्त करना नितान्त आवश्यक है।

दुरुपयोग के कारण इस महान् सत्य में कुछ अन्तर नहीं आ सकता और आज तो केवल अपने ही कल्याण के ख़याल से नहीं, बल्कि मनुष् मात्र की असली उन्नति के ख़याल से, यह नितान्त आवश्यक हो ग है कि इस सत्य को पुनः समझ-बूझकर अपनाया जाय और कम-से-क मनुष्य-मात्र के चेहरे पर तो दैवी-ज्योति की झलक देखी जाय।

यह बड़े महत्त्व की वस्तु है। इसके बिना संसार में स्थायी शा कदापि नहीं स्थापित हो सकती। अतः इस तथ्य को भली-भाँ समझकर अपनाना आज नितान्त आवश्यक हो गया है। भारती संस्कृति हमें इसे अच्छी तरह याद दिलाती है। आवश्यकता है पु इसे व्यापक रूप से व्यक्त करने की।

---

१७. लोक-संग्रह—सबका भला

भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि यहाँ सदा जो कुछ किया जाता है लोक-संग्रह अर्थात् समस्त संसार के कल्याण का भाव सामने रख कर किया जाता है। सार्वभौमिक आत्मीयता अथवा "वसुधैव कुटुम्बकम्" का ही यह निश्चित फल है।

अन्य देशों ने अपना प्रधान लक्ष्य राष्ट्रीयता रखा। इसलिये उनके यहाँ जो कुछ किया गया राष्ट्र के कल्याण का भाव सर्व-प्रथम सामने रखकर किया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि अपने राष्ट्र के हित के लिये अन्य राष्ट्रों को तबाह करना, उनसे अनुचित लाभ उठाना, उन्हें पदलित बनाये रखना—अन्य राष्ट्रों ने बुरा नहीं समझा। उनका तो ध्येय ही रहा—"मेरा देश, सही अथवा ग़लत जिस रास्ते से हो।" ऐसी संकीर्ण राष्ट्रीयता के आधार पर और करते वे क्या?

परंतु, भारतवर्ष ने ऐसी संकीर्ण राष्ट्रीयता का भाव कभी अपने सामने नहीं रखा। वास्तव में, यहाँ तो राष्ट्रीयता का भाव अभी हाल में उत्पन्न हुआ है। हाँ, यह राष्ट्र सदैव रहा है—किन्तु इसके जीवन तथा कार्य का मूल-आधार सदा सार्वभौमिक रहा। बहुत प्राचीन काल से यहाँ लोग सदा लोक-संग्रह, विश्व-कल्याण, का ही भाव अपने सामने रखते आये हैं—केवल अपने राष्ट्र के हित का भाव कभी नहीं। अर्थात् यहाँ सदैव ही राष्ट्रीयता का अर्थ रहा सार्वभौमिकता।

आज समस्त संसार के सभी राष्ट्रों के लिये इस भाव को अपनाना परम आवश्यक हो गया है। पर इसे व्यक्त कौन करे? अपनी सारी त्रुटियों के रहते हुए भी, यही कहना पड़ेगा कि—भारतवर्ष को छोड़कर और कौन इसे व्यक्त कर सकता है?

———

१८. भारत-माता जग की माता

ऐसी व्यापकता अथवा सार्वभौमिकता का भाव यहाँ इस प्रकार प्रधान रूप से क्यों पाया जाता है? यह सोचने-विचारने का विषय है। हम यह भी देख चुके हैं कि भारतवर्ष जैसा प्राचीन देश आज समस्त संसार में दूसरा नहीं। क्यों? अस्तु, अब इनका मौलिक रहस्य संक्षेप में समझने का कुछ प्रयत्न करना चाहिये।

उसके पहले एक और भारतीय विशेषता देखिये। यहाँ विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों के लोग प्राचीन काल से साथ रहते आये हैं। जो संस्कृतियाँ अथवा सभ्यताएँ अपने जन्म-स्थान में हजारों वर्ष पहले ही लोप हो चुकीं, उनके भी अनुयायी स्वच्छन्दता-पूर्वक अपनी संस्कृतियों को अपनाये यहाँ मौजूद हैं।

इन विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों के लोगों का यहाँ एकत्र होना प्रधान रूप से यहाँ के राष्ट्रीय जीवन में प्रत्यक्ष रहा। और इसका असली आशय न समझने के कारण लोग इसे भारतीय राष्ट्रीयता की दुर्बलता का कारण समझते रहे हैं। किन्तु, वास्तव में यह भारतवर्ष की दुर्बलता का कारण नहीं, बल्कि उसकी सबलता, उसकी महत्ता, का सूचक है। कैसे? अभी बताया जाता है।

भारतीय संस्कृति में ऐसी उच्च एवं व्यापक भावनाओं के अस्तित्व का प्रधान कारण यह है कि भारत-माता केवल हमारी ही माता नहीं, जिनका जन्म इस भारत-भूमि में हुआ है, बल्कि समस्त संसार की, सारे जग की, माता हैं। कैसे? यह एक बहुत बड़ा विषय है। इस छोटी पुस्तक में इसका यथेष्ट वर्णन संभव नहीं। अतः यहाँ इस संबंध में दो-एक बातें केवल संकेत-रूप में बता दी जाती हैं।

हम जानते हैं कि हमलोग आर्य जाति के हैं। परन्तु हम यह नहीं जानते कि अरब, फ़ारस, यूनान, इटली, इंगलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका आदि के लोग भी आर्य ही हैं। कहा जाता है कि आर्य जाति एक मूल जाति का नाम है, जिसकी अनेक शाखाएँ अथवा उपजातियाँ है। प्राचीन काल में इस आर्य जाति का कैसे उद्भव हुआ और कैसे भिन्न-भिन्न समय में इसकी भिन्न-भिन्न उपजातियाँ मध्य एशिया से संसार के भिन्न-भिन्न देशों में गयीं, रहीं तथा भिन्न-भिन्न सभ्यताएँ एवं संस्कृतियाँ संसार में स्थापित करती गयीं—ये सब अत्यन्त रोचक एवं उपदेश-प्रद कथाएँ हैं, जो पढ़ने ही योग्य हैं। पर, यहाँ उनका वर्णन बिल्कुल संभव नहीं।

अस्तु, उसी आर्य-जाति की एक शाखा ऐतिहासिक काल के बहुत पहले मध्य एशिया से आकर यहाँ भारतवर्ष में बसी। उसने अपने को आर्य नाम से प्रचारित किया। वह आर्य मूल-जाति की पहली शाखा अर्थात् मूल-उपजाति थी। आर्य मूल-जाति का प्रधान केन्द्र भारतवर्ष प्रतीत होता है। अतः जबतक आर्य मूल जाति की सभी उपजातियों का कार्य क्रमिक रूप से पूरा नहीं हो जायगा, तबतक भारत-माता जीवित रहेंगी और अपनी सभी सन्तानों को अपनी गोद में शरण देते, सब की रक्षा करती रहेंगी!

कहा जाता है कि अबतक केवल पाँच उपजातियाँ आर्य मूल जाति की इस पृथ्वी पर प्रगट हुई हैं। छठीं उपजाति का जन्म यत्र-तत्र आज हो रहा है। बीसों हजार वर्ष बाद सातवीं का समय आयेगा।

अस्तु, उपरोक्त वर्णनों से भारत-माता के संसार-व्यापी मातृत्व का कुछ आभास मिला होगा। यहाँ की व्यापकता एवं सार्वभौमिकता का मूल कारण यही है।

———

१९. लोक-परलोक का भाव

भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता यह है कि यहाँ लोग बहुत पहले से ही लोक-परलोक की बात जानते रहे हैं। ऋषि-महात्माओं, सन्त-महन्तों, ने अतीत काल से लोगों को बता रखा है कि इस विश्व में अनेक लोक हैं; यथा—भूलोक, भुवर्लोक, आदि। ये सब लोक भिन्न-भिन्न तत्त्वों से बने हैं तथा उनकी क्रमिक सूक्ष्मता के कारण हम भूलोक के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म लोकों को नहीं देख सकते।

अस्तु, इन अनेक दृश्य एवं अदृश्य लोकों में अनेकानेक कोटि के प्राणी रहते हैं। उन सबों के साथ मनुष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है और एक समय था जब भारतवासी न केवल प्रगट अथवा दृश्य भौतिक प्राणियों के ही प्रति, बल्कि अन्यान्य कोटि के अदृश्य प्राणियों के प्रति भी, अपने सम्बन्ध भाँति-भाँति समझते थे और सबों के प्रति अपना कर्त्तव्य यथेष्ट रूप से पालन करते थे।

अस्तु, प्राचीन समय में लोग यहाँ यह भी भली-भाँति जानते थे कि जीव की हैसियत से मनुष्य अमर-लोक का निवासी है। इस पृथ्वी पर तो वह कुछ विशेष कार्य-वश केवल यात्री की हैसियत से आता है। यहाँ का कार्य समाप्त कर वह फिर अमर-लोक को वापस जाता है। फिर आता है, फिर जाता है। जब-तक वह नीचे के तीन लोकों को जीत नहीं लेता, यह आवागमन का चक्र चलता रहता है।

इस प्रकार इस भूलोक की अपेक्षा परलोक उन्हें अधिक महत्त्व का ज्ञात होता था। यह भाव आज भी यहाँ के लोगों में पाया जाता है। परन्तु, इसका वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण इसका बहुत दुरुपयोग भी होता है।

---

२०. स्वतन्त्रता एवं मुक्ति

आज तो समस्त संसार में स्वतन्त्रता की लहर प्रचण्ड रूप से फैल रही है। किन्तु, स्वतन्त्रता का आशय बहुत अंशों में राजनीतिक स्वाधीनता ही समझा जाता है। कुछ लोग इससे आगे बढ़कर स्वतन्त्रता से मुख्य अभिप्राय आर्थिक स्वाधीनता समझते हैं, ताकि जीवन-यापन के लिये किसी को किसी का मुँह न देखना पड़े, सबको समान भाव से उन्नति का अवसर प्राप्त रहे।

ये सब लोग समझते हैं कि स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। किन्तु, अधिकांश रूप में स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय भौतिक स्वाधीनता से ही रहता है। यह बड़े महत्त्व की वस्तु अवश्य है। रोटी की समस्या अवश्य बहुत प्रबल है। किन्तु, मनुष्य के जीवन-यापन के लिये केवल रोटी ही पर्याप्त नहीं है। अन्य वस्तुओं की भी उसे आवश्यकता होती है। उनका मूल्य रोटी के मूल्य से कदापि कम नहीं, बल्कि ठीक से समझने से कहीं अधिक है।

अस्तु, भारतीय भावना स्वतन्त्रता की कुछ और ही है। उपरोक्त बातें तो उसमें आ ही जाती हैं। उनके अलावे और भी बातों का समावेश उसमें रहता है, जो केवल भौतिक-वाद वालों की योजना में नहीं पायी जा सकतीं।

भारतीय भावना स्वतन्त्रता की सम्बन्ध में यह है कि मनुष्य अपने अपूर्ण तथा अनुचित कर्मों के कारण बन्धन में पड़ा है। इसी कारण उसे आवागमन में फँसे रहना पड़ता है। इससे मोक्ष अथवा मुक्ति पा जाने से मनुष्य परम पद को प्राप्त हो जाता है, आवागमन से रहित हो जाता है। फिर तो वह पूर्ण स्वतन्त्र बन जाता है। उसके बाद कोई शक्ति उसे जन्म धारण करने के लिये विवश नहीं कर सकती। यह है स्वतंत्रता संबंधी भारतीय भावना !

भारतीय संस्कृति का मूल-आधार आध्यात्मिक होने के कारण यहाँ इस प्रकार की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को ही वास्तविक स्वतन्त्रता समझा जाता है। जिसमें ऐसी क्षमता आ जायेगी, वह बहुत पहले ही भौतिक स्वाधीनता प्राप्त कर चुका रहेगा।

अस्तु, मुक्ति अथवा मोक्ष का यह भाव सामान्य रूप से प्रत्येक भारतीय के नस-नस में प्रवेश किये हुए है। हाँ; आज लोग ऐसी स्वतन्त्रता अथवा मुक्ति का असली आशय तो बहुत कम समझते हैं और न उन्हें यह मालूम है कि ऐसी मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। ये बातें बतला तो दी गयी हैं भली-भाँति स्पष्ट करके। लेकिन उनकी ओर ध्यान कौन देता है ? हाँ; दुनियाँ की झंझटों से छुटकारा पाने के ख्याल से लोग बहुधा ऐसी मुक्ति का भाव ही सर्व-प्रथम अपने सामने रखना चाहते हैं।

इस प्रकार ऊब कर भागने से संसार से मुक्ति थोड़े हो सकती है ! अस्तु, इससे भी इस तथ्य का अच्छी तरह पता चलता है कि हमारे जीवन की तह में भारतीय संस्कृति का यह कैसा सुन्दर एवं महत्त्व-पूर्ण भाव छिपा पड़ा है। इसे भली-भाँति समझकर इसका उपयोग करने से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा संसार के जीवन का स्तर बहुत ऊँचा उठ जायेगा। अस्तु, इसी के वास्तविक उपयोग के आधार पर भारतवर्ष समस्त संसार को वास्तविक स्वतन्त्रता अर्थात् मुक्ति का सन्देशा देता आया है; और आगे भी देगा—इसमें सन्देह नहीं।

---

२१. धर्म ही जीवन की भित्ती

एक और विशेषता हमारी संस्कृति की यह है कि यहाँ धर्म पर जीवन के सभी कार्यों अथवा क्रियाओं का अवलम्ब समझा जाता है। पूजा-पाठ, ईश्वरोपासना के सम्बन्ध में तो धर्म का नाम आता ही है, यह तो साधारण बात है। किन्तु, यहाँ तो हर क्रिया के सम्बन्ध में धर्म का नाम लाया जाता है।

राज्य-शासन चलाने का धर्म, राजा का धर्म, प्रजा का धर्म; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों के धर्म; सन्यास, वानप्रस्थ गार्हस्थ्य तथा ब्रह्मचर्य आश्रमों के धर्म; गुरु का धर्म, शिष्य का धर्म; पिता का धर्म, पुत्र का धर्म, बड़े का छोटे के प्रति धर्म, छोटे का बड़े के प्रति धर्म, बराबरी वालों का पारस्परिक धर्म; इतना ही नहीं—भोजन करने का धर्म, स्नान करने का धर्म, सोने का धर्म, जागने का धम; चलने-फिरने, उठने-बैठने, बोलने-चालने, देने-लेने, आदि कोई बड़ी-से-बड़ी अथवा छोटी-से-छोटी क्रिया अथवा सम्बन्ध ऐसा नहीं है जिसके लिये धर्म न बताया गया हो।

इस प्रकार बात-बात में धर्म का नाम सुनकर लोग बहुधा धर्म को निरा ढकोसला समझते तथा इसकी अवहेलना करते हैं। और आज तो बहुतों की दृढ़ धारणा है कि धर्म ही मानव-समाज की अवनति अथवा पतन का कारण है। अतः इसे समूल नष्ट ही कर देना ठीक है।

हाँ; इसमें सन्देह नहीं कि धर्म का बहुत दुरुपयोग किया गया है और आज भी किया जा रहा है। फिर भी इसमें कोई दोष धर्म का नहीं है, उसके दुरुपयोग करने वालों का है। इन दुर्भावनाओं को त्याग कर आवश्यकता है धर्म का यथार्थ भाव समझने की तथा तदनुकूल चलने की। फिर, धर्म की उत्कृष्टता आप-से-आप प्रगट हो जायेगी

और जीवन को उज्ज्वल तथा समुन्नत बनाये बिना न रहेगी। यही तो इसका लक्ष्य ही ठहरा।

अस्तु, यहाँ जो बात-बात में धर्म का समावेश किया गया है, उसका विशेष अभिप्राय है। प्राकृतिक नियमानुकूल जिसे जिस संबंध में जैसा करना चाहिये, वही उसका धर्म बतलाया गया है। अब, ज़रा सोचिये तो सही, क्या प्राकृतिक नियम के अनुकूल चलना किसी भी हालत में ढकोसला अथवा अनिष्ट-कारक हो सकता है? कदापि नहीं। इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

हाँ; यदि बिना समझे-बूझे अन्धे की नाईं केवल विधि निबाहने के भाव से किसी नियम का अनुसरण किया जाय, तो वह ढकोसला अवश्य है। अस्तु, किसी नियम का ढकोसला होना अथवा नहीं होना, उस नियम पर निर्भर नहीं है, उसके उपयोग करने वाले की मनोवृत्ति पर निर्भर है। इसे भली-भाँति समझ लेना आवश्क है।

अब, धर्म के प्रत्येक नियम को प्राकृतिक नियम के रूप में देखने की कोशिश कीजिये। फिर उसकी विचित्रता एवं उत्कृष्टता देखिये। समाज का संगठन प्राकृतिक नियमानुकूल कैसा होना चाहिये; प्राकृतिक नियमानुकूल मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का कैसा विभाजन होना चाहिये तथा प्रत्येक भाग को कैसे चलाना चाहिये; प्राकृतिक नियमानुकूल भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न संबंधों में कैसे क्या करना चाहिये, आदि बातें जिस ख़ूबी तथा विस्तार के साथ यहाँ बतायी गयी हैं, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पायी जायेंगी।

हाँ; इन सारी बातों में बहुत दोष आज अवश्य भर गये हैं। उन्हें दूर करना जरूरी है। उन्हें दूर कर जीवन को धर्मानुकूल चलाइये और फिर देखिये कैसा गुल खिलता है, कैसा रंग जमता है।

---

२२. पारिवारिक भाव

भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता मानव-समाज के संगठन में पारिवारिक भाव का समावेश करना है। मनुष्यों का कोई छोटा समूह हो या बड़ा, हर संस्था के संगठन की नींव इस पारिवारिक भाव पर यहाँ आधारित रहती आयी है।

जहाँ कहीं दो या अधिक कोटि के मनुष्यों को एक साथ एक संस्था अथवा एक संगठन में कार्य करने का अवसर मिला है, वहाँ पारिवारिक भाव का निश्चित उपयोग किया गया है। इस प्रकार यहाँ की प्राचीन पद्धति में गुरु-शिष्य, पुरोहित-यजमान, मालिक-नौकर, राजा-प्रजा—हर जगह इस भाव का प्रयोग किया गया है।

वास्तव में, यहाँ तो परिवार का क्षेत्र क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते विश्व-मात्र को एक परिवार मानकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श व्यावहारिक रूप से अपनाया गया था। इसके उपयोग की कोई सीमा ही न थी। इस पारिवारिक भाव के ढाँचे में मनुष्यों के छोटे-बड़े सभी समूह बड़ी सुगमता से और बड़ी सुन्दरता से अपनी-अपनी जगह बैठ जाते थे। फिर, सब आनन्द से एक साथ मिलकर रहते और उन्नति-पथ पर अग्रसर होते थे। समूह-समूह के मध्य लड़ाई-झगड़े की मानो जड़ ही कट गयी हो।

वह पारिवारिक भाव क्या है, उसे ठीक से समझना आवश्यक है। हाँ; इसमें सन्देह नहीं कि कुछ दिनों से यहाँ इस पारिवारिक पद्धति में बहुत-सी कुरीतियाँ घुस गयी हैं। उन्हें तो दूर करना ही है। अस्तु, अभी देखिये, पारिवारिक भाव का आदर्श कैसी उच्च कोटि का है, कैसा सराहनीय तथा अनुकरणीय है।

पहली बात परिवार के संबंध में नोट करने की यह है कि इसके

अवयव, सभी व्यक्ति, पारस्परिक प्रेम के संबंध में बँधे रहते हैं। सभी सबों के प्रति आत्मीयता का अनुभव करते हैं। इसका फल यह होता है कि एक के दुःख से सभी दुःखी हो जाते हैं। वैसे ही एक के सुख से सभी सुखी भी होते हैं।

बड़े छोटों पर दया का भाव रखते हैं; सदा उनकी उन्नति की चेष्टा में लगे रहते हैं। छोटे बड़ों का आदर करते हैं और सर्वदा उनकी सेवा के अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। सब में पारस्परिक सहयोग तथा साहाय्य का भाव सदा बना रहता है।

जिसके उपयुक्त जो काम होता है वह उसमें लगा रहता है। बच्चे खेलने में लगे रहते है। बूढ़े आराम करते रहते हैं। नवयुवक पढ़ने-लिखने में व्यस्त रहते हैं। प्रौढ़ मनुष्य रोज़गार-व्यापार, खेती-गृहस्थी, नौकरी-चाकरी में लगे रहते हैं। कोई एक दूसरे का ऐसा करना बुरा नहीं मानता। वाह! "प्रत्येक से, उसके सामर्थ्य के अनुसार; प्रत्येक को, उसकी आवश्यकता के अनुकूल" का स्वर्ण-नियम यहाँ भली-भाँति बरता जाता है।

फिर, परिवार के बच्चों के प्रति तो सभी लोग विशेष नरमी, उदारता एवं प्रेम का व्यवहार करते हैं। बच्चे गोदी में पेशाब-पाख़ाने कर देते हैं। इसके लिये कोई उन्हें बुरा नहीं समझता, न उन्हें कोई दण्ड दिया जाता है। बल्कि उनके अबोध होने के कारण ऐसे अवसरों पर सभी लोग विशेष प्रेम उनकी ओर प्रदर्शित करते हैं।

परिवार का प्रत्येक व्यक्ति परिवार की सेवा करना, परिवार की उन्नति के लिये प्रयत्न करना, अपना परम कर्त्तव्य समझता है। वैसे ही सारा परिवार प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा तथा हित के लिये अपने को न्यौछावर करने को तत्पर रहता है।

---

२३. समाज-संगठन

समाज-संगठन यहाँ पारिवारिक भाव के आधार पर किया गया है, जैसा अभी बताया गया है। वह वर्ण-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध है। वर्ण-व्यवस्था की बात सुनकर बहुत लोग आज नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं, क्योंकि उसमें आज बहुत कुरीतियाँ घुस गयी हैं। अस्तु, उन कुरीतियों को तो दूर करना नितान्त आवश्यक है। किन्तु, उनके कारण यह समाज-पद्धति दूषित नहीं कही जा सकती।

यह पद्धति तो ऐसी सुदृढ़ नींव पर आधारित है जो कभी टूट नहीं सकती। वह आधार प्राकृतिक नियम का अवलम्बन है। वह भला कब बदल सकता है? इस पद्धति के अतीत काल से आज-तक क़ायम रहने का प्रधान कारण यही है। और, आगे भी यह पद्धति क़ायम रहेगी—इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। आज संसार सामाजिक नव-निर्माण की कोशिश में लगा है। भाँति-भाँति की योजनाएँ संसार के सम्मुख उपस्थित हैं। उनके वर्णन का यहाँ स्थान नहीं। किन्तु, प्रश्न यह है कि किस समाज-पद्धति से आज संसार की पेचीली उलझनें सुलझायी जा सकती हैं।

हम तो कहेंगे उसकी कुंजी वर्ण-व्यवस्था नामक भारतीय पद्धति में है, क्योंकि यह प्राकृतिक नियमों के आधार पर अवलम्बित है। आवश्यकता है उसे निष्पक्ष भाव से ठीक से समझने तथा आज भी उसका समुचित उपयोग करने की।

किसी भी समाज को ले लीजिये। भारतीय समाज को छोड़ अँग्रेजी तथा रूसी समाज को लीजिये। क्लास आदि के भेद मिटाने की कोशिशों के रहते हुए भी, आप देखेंगे कि हर समाज में चार श्रेणी के मनुष्य पाये जायेंगे। कुछ में पठन-पाठन की प्रवृत्ति विशेष होगी,

तो कुछ में शूरता, वीरता, संगठन एवं शासन की; फिर कुछ में कृषि, वाणिज्य, आदि की प्रवृत्ति होगी, तो कुछ में सेवा अथवा मज़दूरी की।

प्रत्येक देश में प्रत्येक समाज के अन्दर ये चार कोटि के मनुष्य पाये जायेंगे। किन्तु, कहीं भी वैज्ञानिक रीति से इनका संगठन समाज के अन्दर अब-तक नहीं हुआ है। हाँ, अमेरिका में हाल में मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा लोग मनुष्यों की प्रवृत्तियों का पता लगाकर उन्हें उपयुक्त काम देने की कोशिश कर रहे हैं।

अस्तु, मनुष्य के इन्हीं चार प्राकृतिक विभागों का विशिष्ट विवरण भारतीय वर्ण-व्यवस्था नामक समाज-पद्धति में विद्यमान है। अतः हम भारतीयों का तो यह परम कर्त्तव्य है कि इस संगठन का रहस्य भली-भाँति समझकर उसके अनुकूल अपना समाज-संगठन करें।

फिर, वही नमूना संसार के लिये भी होगा। खेद है कि अधिक विस्तार के साथ इसकी व्याख्या का यहाँ स्थान नहीं। अस्तु, इसी काशी के प्रसिद्ध विद्वान एवं दार्शनिक, डा० भगवान् दास, ने इसकी विशद व्याख्या तीन जिल्दों में अँग्रेज़ी में ("The Laws of Manu or The Science of Social Organisation") "मनु के नियम अर्थात् समाज-संगठन-शास्त्र" नामक ग्रन्थ में की है। वह पढ़ने तथा मनन एवं अनुसरण करने योग्य ग्रन्थ है।

हाँ; उन नियमों का अक्षरशः पालन आज सम्भव नहीं है। किन्तु, उनके जो सार-तत्त्व हैं, वे वैज्ञानिक हैं, प्राकृतिक हैं। अतः उनकी अवहेलना करना कदापि उचित नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुकूल उनमें कुछ उलट-फेर कर लेना अच्छा होगा। परन्तु, उनके सार-तत्त्वों के उपयोग द्वारा ही समाज-संगठन की अत्यन्त पेचीली समस्या सुलझायी जा सकती है।

——

२४. व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था

पिछले प्रकरणों में यह दिखाया जा चुका है कि भारतीय संस्कृति की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि यहाँ जीवन का प्रत्येक अंग अचल-अटल प्राकृतिक नियम के आधार पर अवलम्बित है। अब, देखिये, मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन-पद्धति में कैसे यह नियम लागू होता है।

अच्छा, पहले साधारण दृष्टि से इस पर विचार कीजिये। किसी देश के लोगों को ले लीजिये। प्रत्येक देश में मनुष्य का जीवन कुछ भागों में बँटा हुआ पाया जायगा। पहले पढ़ने-लिखने का समय रहता है। फिर शादी-विवाह, नौकरी-चाकरी, रोज़गार-व्यापार का समय आता है। बाद में सक्रिय जीवन से हट कर विश्राम या स्वेच्छा-पूर्वक सेवा-कार्य का समय आता है और अन्त में केवल विश्राम का समय।

किन्तु, भारतीय व्यक्तिगत जीवन-पद्धति को छोड़कर अन्य कहीं इन अवस्थाओं की सुसंस्कृत व्यवस्था नहीं पायी जायेगी। यहाँ मनुष्य का जीवन वैज्ञानिक रीति से प्राकृतिक नियमों के आधार पर चार आश्रमों में विभाजित है। ये चार आश्रम हैं: ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास। मनुष्य-जीवन की अवधि १०० वर्ष मान कर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष की रखी गयी है।

फिर प्रत्येक आश्रम में कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये, कब किन नियमों का पालन करना चाहिये, किन बातों से परहेज़ करनी चाहिये, आदि सभी बातें बड़ी स्पष्टता तथा विस्तार के साथ यहाँ बतलायी गयी हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

पहला आश्रम ब्रह्मचर्य का है। साधारण भावसे यह समय

पढ़ने-लिखने का समझा जाता है। इसके अलावे ब्रह्मचर्य से अभिप्राय वीर्य-रक्षा अर्थात् शक्ति-संचय एवं शक्ति-वर्द्धन से भी समझा जाता है। किन्तु, वास्तव में ब्रह्मचर्य के अन्दर और भी गूढ़ भाव छिपे हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि इसका आशय यह है कि मनुष्य-जीवन की नींव ब्रह्म अर्थात् सनातनत्व अथवा अनन्तता के आधार पर अवलंबित होनी चाहिये।

गार्हस्थ्य जीवन में स्त्री-पुरुष का संबंध कैसा रहना चाहिये, गर्भाधान, शिशु-पालन आदि का क्या नियम है; जीवन-निर्वाह किस प्रकार करना चाहिये; आदि बातों पर वैज्ञानिक विवेचन मिलता है।

फिर, ५० वर्ष के बाद मनुष्य को वानप्रस्थ अवस्था में प्रवेश करना चाहिये। वानप्रस्थ से अभिप्राय है वन जाने से। किन्तु, इस समय घर छोड़ कर वन जाना ही आवश्यक नहीं है। हाँ; अब से घर से विरक्त होकर, घर की मोह-माया-ममता छोड़ कर जन-साधारण की सेवा मुख्य रूप से होनी चाहिये।

और, अन्त में सन्यास आश्रम के समय जब मनुष्य विशेष रूप से सक्रिय नहीं रह सकता, उस समय उसे विश्राम करना चाहिये तथा भगवान् को स्मरण कर मनुष्य-मात्र एवं प्राणि-मात्र के कल्याण के लिये आशीर्वाद माँगते तथा वितरित करते रहना चाहिये।

कैसी सुन्दर यह जीवन-पद्धति है! इसके नियमों के अनुकूल चलकर मनुष्य बड़ी तेजी से उन्नति कर सकता है और साथ ही समाज की उच्च कोटि की सेवा भी कर सकता है। खेद है कि आज इन नियमों पर कुछ ध्यान नहीं दियां जाता। किन्तु, हैं ये वास्तव में बड़े मूल्यवान नियम, जिनके पालन द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों कोटि का जीवन समुन्नत तथा सफल हो सकता है।

---

२५. आदर्श शिक्षा-पद्धति

फिर, भारतीय शिक्षा-पद्धति भी कैसी आदर्श थी, निराली थी! प्राचीन समय में यहाँ आज के ऐसे स्कूल-कालेज नहीं थे। न आज के ऐसे वैतनिक शिक्षक थे, न विद्यार्थियों को प्रति मास कोई फ़ीस देनी होती थी।

अब, संक्षेप में उस प्रणाली का कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है। इस सम्बन्ध में भी उस समय पारिवारिक भाव से ही काम लिया जाता था। गुरु लोग योगाभ्यासी, आत्म-ज्ञानी तथा जीवन-सम्बन्धी विद्याओं एवं कलाओं में निपुण होते थे। वे बड़े तपस्वी एवं आत्म-संयमी भी होते थे। ऐसे गुरु बहुधा जंगलों में आश्रम बना कर रहते थे, जहाँ विद्यार्थी जाकर रहते तथा पढ़ते-लिखते थे।

धनी-ग़रीब, राजा-रंक, सबके लड़के वहाँ एक साथ एक भाव से रहते तथा ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करते। उनके कपड़े, भोजन, कार्य आदि सभी एक-से होते; उनमें तनिक भेद किसी प्रकार का नहीं रखा जाता था। इस प्रकार सबों में समता तथा नम्रता का भाव आदि से ही भरपूर रहता था।

आश्रम में रह कर सभी विद्यार्थियों को एक भाव से गुरु की सेवा करनी पड़ती थी। वहाँ नौकर-चाकर से कुछ काम नहीं लिया जाता था। आश्रम झाड़ने, लीपने, बरतन माँजने, लकड़ी चुन कर लाने, भोजन बनाने, आदि सभी काम सब मिल कर करते थे। इतना ही नहीं; सभी विद्यार्थियों को भिक्षाटन भी करना पड़ता था—राजा के लड़के को भी। सोचने की बात है कि इस प्रकार के जीवन द्वारा कैसी नम्रता तथा सेवा का भाव बचपन में ही विद्यार्थियों के हृदय पर व्यावहारिक रूप से दृढ़ता-पूर्वक अंकित हो जाता होगा।

फिर, पढ़ने के लिये वहाँ बीसों किताबों की बातें प्रति वर्ष मस्तिष्क में ठूसनी नहीं पड़ती थीं। गुरुजी एक-एक सूत्र एक-एक विद्यार्थी को बता देते थे। वे उसे स्मरण कर उस पर भली-भाँति मनन करते तथा उसका सार जीवन में उतारने का प्रयत्न करते। जब उसमें कोई प्रवीण हो जाता, तभी उसे दूसरा सूत्र बताया जाता।

इस प्रकार की पढ़ाई द्वारा विद्या का सार हृदयांकित हो जाता था। इससे विद्यार्थियों की मानसिक शक्तियों का विकास होता था, जो केवल बाहरी ज्ञान मस्तिष्क में ठूँसने से कदापि नहीं हो सकता।

अस्तु, वास्तव में, पोथी की पढ़ाई तो वहाँ कम होती थी। किंतु, विद्यार्थियों को विशेष लाभ आश्रम के पवित्र एवं सद् प्रेरक वातावरण से होता था। यह फल गुरु के संयत एवं आदर्श व्यक्तित्व के कारण होता था। उनके समीप रहना ही उच्चतम कोटि की शिक्षा थी।

इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी बहुधा २५ वर्ष की अवस्था तक गुरु-देव के आश्रम में उनके वृहत् परिवार का एक अंग बनकर रहता तथा विद्याभ्यास करता था और बाद में गुरु से आज्ञा ले घर वापस जाता था। उस समय गुरु के आज्ञानुसार गुरु-दक्षिणा दे वह वहाँ से विदा होता था। तब वह गार्हस्थ्य जीवन प्रारंभ करता था।

गुरु-कुल से विदा होते समय तक प्रत्येक विद्यार्थी अपने जीवन का लक्ष्य भली-भाँति समझ लिये रहता था और अपने कार्य की क्षमता भी प्राप्त कर लिये होता था। बाद में जीवन में प्रवेश कर वह स्वच्छन्द रूप से विचरता तथा जीवन में अपना निश्चित लक्ष्य पूरा कर समाज की सेवा करता तथा अपना जीवन सफल बनाता। कैसी सुन्दर यह प्रथा थी!

———

२६. कला-कौशल

भारतीय संस्कृति की विशेषता यहाँ के कला-कौशल से भी भली-भाँति विदित होती है। नृत्य, गान, वाद्य, वास्तु-निर्माण, चित्रकारी, मूर्त्ति-निर्माण आदि हर प्रकार की कारीगरियों में विलक्षण निपुणता दृष्टि-गोचर होती है। अजन्ता के शिला-चित्रों तथा दक्षिण-भारत के विशाल मन्दिरों के देखने से चित्त आश्चर्य-चकित हो जाता है। विशाल-मन्दिरों के भीतर विशाल पत्थर के खंभों को देखकर और भी आश्चर्य होता है। इतने बड़े-बड़े खंभे और प्रत्येक पर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विलक्षण कलाकारी! यहाँ की कला के बारे में बहुत ठीक कहा गया है कि लोग देवों-जैसे निर्माण-कार्य करते थे और सोनारों-जैसे कार्य की बारीक सफाई करते थे!"

वास्तव में, यहाँ कला की बड़ी विलक्षण प्रगति हुई। एक-दो तरह की कला नहीं—यहाँ ६४ प्रकार की कलाओं का वर्णन मिलता है और सभी प्रकार की कलाओं में लोगों ने अद्भुत प्रवीणता प्राप्त की थी।

कला का भाव तो यहाँ के लोगों के दैनिक जीवन तक भली-भाँति प्रवेश कर गया था। उनके साधारण व्यवहार के मिट्टी के बर्तन को देखिये अथवा उनके प्रति-दिन के व्यवहार के कपड़े को देखिये, बात-बात में कला की विचित्र छटा यहाँ दृष्टि-गोचर होती थी।

सब से बढ़कर बात तो यह थी कि जीवन-यापन की कला में भी वे लोग बड़े निपुण थे। उनके बात-व्यवहार, रहन-सहन, बोल-चाल, प्रत्येक कार्य में कला का विशेष प्रदर्शन होता था! अब फिर आवश्यकता है तद्रूप जीवन बनाने की!

———

२७. भारतीय शासन-पद्धति

भारतीय शासन-पद्धति में भी पारिवारिक भाव का समावेश है। यहाँ प्राचीन काल से राजा-प्रजा की प्रथा चलती आयी है। किन्तु, राजा का स्थान कभी निरा स्वेच्छाचारी नियंता का नहीं रहा।

सबसे पहले, समस्त राज एक परिवार समझा जाता था। उसमें राजा का स्थान पिता का था और समस्त प्रजा अपने को उनकी संतान समझती थी। राजा भी अपनी संतान-जैसे ही उनकी देख-रेख, उनकी रक्षा तथा उनकी उन्नति का ख्याल रखते थे।

प्रजा के हित के लिये राजा लोग सदैव अपनी जान तक दे-देने को तत्पर रहते थे। वैसे ही प्रजा लोग भी राजा के लिये प्राण देना महान् गौरव की बात समझते थे।

न्याय बरतने में सभी का अधिकार समान समझा जाता था। यदि राजा के निजी व्यक्तिगत परिवार का कोई व्यक्ति दोषी पाया जाता, तो उसकी भी सज़ा साधारण नियमानुकूल ही होती थी। ऐसे कई उदाहरण मौजूद हैं जब राजा लोगोंने अपने अभियुक्त राजकुमारों को प्राण-दण्ड तक की सज़ा दी है।

फिर. राजा लोग अपने मंत्री की राय बिना कोई कार्य नहीं करते थे। और मंत्री लोग बड़े प्रवीण राजनीतिज्ञ होते थे। इसके अलावे, ऋषि-महात्माओं, सन्त-महन्तों का सभी लोग—राजा भी—बड़ा आदर करते थे और ये लोग जो कुछ राय देते, उसके प्रतिकूल वे कभी कुछ नहीं कर सकते थे।

साथ ही प्रजा की राय अथवा भावों की भी अवहेलना नहीं की जाती थी। उन पर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाता था। इसके अलावे यह भी नियम था कि यदि कोई राजा अन्यायी निकल जाय, तो प्रजा

उसे हटा कर दूसरे योग्य व्यक्ति को राज-गद्दी पर बैठा दे।

राजा-प्रजा की बात आज सब को बहुत खटकती है। कारण यह है कि अब राजा राज-पिता के स्थान पर न रहे, स्वार्थी हो गये। प्रजा को अपने सुख का साधन समझने लगे। किन्तु, पहले की तो ऐसी बात बिल्कुल थी ही नहीं। वह तो आदर्श ही कुछ और था।

अस्तु, प्राचीन शासन-प्रणाली की एक बड़ी विशेषता यह थी कि प्रत्येक गाँव का कार्य पंचायत द्वारा संचालित होता था, जो प्रजातंत्र अथवा लोक-तंत्र शासन का सुन्दर नमूना था। आज, कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रजातंत्र हमारे देश के लिये मानो कोई बिल्कुल नयी वस्तु हो। किन्तु, ऐसी बात बिल्कुल नहीं है।

अभी थोड़े दिनों पहले तक ग्राम-पंचायत का सिलसिला देहातों में जारी था। गाँव के प्रतिष्ठित सज्जनों को सभी लोग स्वेच्छा-पूर्वक पंच मान लेते थे और जब कोई झगड़ा आपस में होता तो दोनों पक्ष वाले फ़ौरन पंचों से उसका निबटेरा करा लेते। पंच न्याय-पूर्ण निर्णय देते, किसी का पक्षपात नहीं करते। नतीजा यह होता कि न्याय में दूध का दूध और पानी का पानी ठीक उतर आता और झगड़ा बात की बात में ख़तम हो जाता। दोनों विपक्षियों में पुनः सहृदयता एवं मैत्री स्थापित हो जाती।

लोकतंत्र को उस प्रथा से बहुत कुछ सीखना है। आवश्यकता है उसकी विशेषताओं को भली-भाँति समझ कर उनके अनुकूल पंचायती पुनः स्थापित करने की। फिर, देश के समृद्धिशाली होने में, आदर्श प्रजातंत्र अथवा गणतंत्र का नमूना बनने में, देर न लगेगी।

———

२८. संसार का आध्यात्मिक नेतृत्व

पिछले प्रकरणों के अध्ययन से यह भली-भाँति विदित हुआ होगा कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार आध्यात्मिकता है। और आध्यात्मिकता के व्यावहारिक रूप हैं सार्वभौमिकता, सार्वग्राह्यकता, समदर्शिता, "सर्व-भूत-हिते-रताः" अर्थात् लोक-संग्रह का भाव, इत्यादि।

जिस मनुष्य अथवा राष्ट्र में वास्तविक आध्यात्मिकता का भाव आ गया होगा, वह मनुष्य-मात्र क्या, प्राणि-मात्र के साथ एक हो चुका रहेगा। अतः स्वार्थ के फन्दे से वह बहुत ऊपर उठ चुका होगा। वह जो कुछ करेगा प्राणि-मात्र के कल्याण का भाव सर्व-प्रथम अपने सामने रख कर करेगा।

यही कारण है कि क्यों भारतवर्ष को सदा से संसार के आध्यात्मिक संचालन का सौभाग्य प्राप्त रहा है। इस तथ्य को सभी समझदार आदमी मानते हैं—पाश्चात्य देशों के लोग भी। अनेकों विदेशी सज्जन इसे परम-पावन भूमि समझते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पिछली शताब्दियों में हमारे देश को बुरी-तरह पद्दलित होना पड़ा है। आज भी हमारी कितनी ही कारर्वाइयाँ ऐसी हो रही हैं, जो भारतीयता की उपरोक्त शान, ओज अथवा महत्ता के बिल्कुल योग्य नहीं। यह बड़ी लज्जा की बात अवश्य है।

फिर भी, हमारे राष्ट्र के हृदय के अन्तस्तल में अनुभवित आध्यात्मिकता की उज्ज्वल तीव्र ज्योति सदा चमकती रही है। आज भी चमक रही है। और ज्योंही हम उसकी ओर ध्यान देने लगेंगे, त्योंही वह ज्योति पुनः बाहर भी प्रगट हो जायेगी और समस्त-संसार को प्रकाशमान बनाये बिना न रहेगी। यह हमारे राष्ट्र का निश्चित लक्ष्य दैवी-योजना के अनुकूल प्रगट होता है। अतः इस लक्ष्य की पूर्ति

अवश्य होकर रहेगी। दूसरे शब्दों में, भविष्य में भी भारत-माता को संसार के प्रति कुछ अनुपम आध्यात्मिक सन्देशा सुनाना है और वह उसे अवश्य सुनायेगी।

भविष्य से अभिप्राय बहुत दूर के भविष्य से ही नहीं समझना चाहिये। वह भी होगा। किन्तु, अभी वर्त्तमान समय भी अत्यन्त ही नाज़ुक बीत रहा है। इस समय युग-परिवर्तन हो रहा है। ऐसे अवसर पर संसार को नयी ज्योति, नये सुझाव की आवश्यकता है, जिससे संसार की वर्त्तमान पेचीली समस्याएँ सुलझ सकें और आगे के लिये शान्ति-पूर्ण उन्नति का मार्ग खुल सके।

यह कौन करेगा? संसार के सभी प्रमुख राष्ट्र तो इस कोशिश में लगे हैं—आज से नहीं, कुछ दिनों से। किन्तु, नतीजा क्या निकला है? उलझनें और अधिक उलझती गयी हैं, और अधिक पेचीली होती गयी हैं।

सोचने की बात है कि ऐसा क्यों हुआ है। इसका एक-मात्र कारण है प्रयत्नशील प्रमुख राष्ट्रों की स्वार्थ-परता। इससे वे अभी अपने को ऊपर नहीं उठा सके हैं। लोक-संग्रह अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये कार्य करते हुए भी अपनी संकीर्ण राष्ट्रीयता के कारण वे अभी तक अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को ही प्रधान स्थान देते रहे हैं।

अस्तु, इस नयी ज्योति के उद्भव एवं प्रसार के लिये आज एक ऐसे राष्ट्र के माध्यम की आवश्यकता है, जिसके जीवन तथा कार्य का मूल स्तम्भ स्वार्थ नहीं, परार्थ अर्थात् परमार्थ अथवा आध्यात्मिकता हो। भारतवर्ष को छोड़कर और कौन राष्ट्र इस पृथ्वी-तल पर आज मौजूद है जिसे यह श्रेय प्राप्त हो? अतः अभी भी संसार का यथेष्ट आध्यात्मिक संचालन भारत-माता द्वारा ही अवश्य होगा।

---

२६. भारतीयता की आज आवश्यकता

उपरोक्त विचारों से भली-भाँति सिद्ध होगा कि आज संसार के कल्याणार्थ भारतीयता की कितनी प्रबल आवश्यकता है। भारतीयता से अभिप्राय क्या है, ऊपर दिखाया गया है। अतः उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीयता से अभिप्राय है—अपार उदारता, सार्वभौमिकता, सार्वग्राह्यकता, लोक-संग्रहत्व, पारिवारिक भाव; जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र, प्रत्येक संस्था, का प्राकृतिक नियमों के आधार पर संगठन एवं संचालन, जीवन की अनुपम कला का प्रकाशन, परिमार्जित स्वतंत्रता, इत्यादि।

अस्तु, आज आवश्यकता है इन महान् तत्त्वों के पुनः अपने राष्ट्रीय जीवन में प्रगट करने की तथा तदनुकूल राष्ट्रीय जीवन के कार्य-क्रम निर्धारित करने एवं चलाने की। यह कैसे हो सकेगा? इस पर कुछ प्रकाश पहले डाला जा चुका है।

भारतीयता की एक और बड़ी विशेषता है। भारत-माता ने संसार का आध्यात्मिक संचालन सदैव किया, किन्तु अन्य राष्ट्रों को पराधीन बना कर नहीं। यह भाव कभी उसके मन में नहीं आया।

अस्तु, जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र वास्तव में स्वतंत्र होगा, वह हर्गिज़ अन्य व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों को पराधीन बनाने की कल्पना तक नहीं कर सकेगा। उसका तो लक्ष्य होगा सब को स्वतंत्र बनाना—उनके ऊपर अपनी सत्ता, आदर्श, अथवा सिद्धान्त थोपकर नहीं, बल्कि उनके निराले व्यक्तित्व के प्रगट करने में अनुकूल सहयोग एवं साहाय्य प्रदान कर के। उसी की आज फिर भी आवश्यकता है।

———

३०. हमारा महान् अवसर

भारतीयता का अनुपम स्वरूप तो कुछ अंशों में देखा गया। इसकी उपयोगिता तथा आवश्यकता भी समझी गयी। किन्तु, प्रश्न यह है कि इस महान् कार्य का संपादन कैसे होगा।

सब से पहले तो भारतीयता का यथार्थ एवं यथेष्ट स्वरूप ही निश्चित करना आवश्यक है। इसके संबंध में कुछ विचार पहले प्रगट किये जा चुके हैं। यहाँ विशेष रूप से इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस महान् कार्य के संपादन की ज़िम्मेदारी हम भारत-माता की संतानों पर है।

अन्ततो-गत्वा, व्यक्ति से ही तो राष्ट्र अथवा अन्य कोई छोटी अथवा बड़ी संस्था बनती है। पहले आगे बढ़कर कुछ व्यक्ति ही नये कार्य करते हैं और यदि उनमें कुछ तथ्य रहता है तो बाद में जन-साधारण भी उन्हें अपना लेते हैं और सामूहिक रूप से कार्य होने लगता है।

अतः हमारे लिये यह परम आवश्यक है कि हम पहले चाव से जान लें कि भारतीयता से क्या अभिप्राय है। फिर तदनुकूल अपना जीवन बनायें तथा उसी की ज्योति में अपने सभी कार्य करें।

संसार के आध्यात्मिक संचालन का कार्य कुछ हल्का कार्य नहीं। अस्तु, भारत-माता की संतान होने के नाते यह महान् अवसर आज हमें प्राप्त है। इसकी महत्ता का वर्णन नहीं किया जा सकता।

धन्य हैं हम जिन्हें ऐसा अनुपम स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ है। और भी अधिक धन्य होंगे वे लोग जो अग्रगामी बन कर भारतीयता को अपनायेंगे तथा जीवन एवं कार्य द्वारा प्रगट करेंगे! क्या ऐसा स्वर्ण-अवसर हम हाथ से निकल जाने देंगे?

---

३१. भीषण उत्तरदायित्व

स्वभावतः जो अवसर जितना ही उत्कृष्ट होता है, उसकी ज़िम्मेवारी, उसका उत्तरदायित्व, भी उतना ही भीषण होता है। इस उत्तरदायित्व को भी भली-भाँति समझकर कार्य करना आवश्यक है।

आज संसार के सम्मुख कैसी विकट परिस्थिति उपस्थित है, किसी से छिपा नहीं है। समय अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा मानव-समाज की एकता का व्यावहारिक पाठ पढ़ाने पर तुला है। संसार के सभी उन्नत देशों के नेता इस तथ्य को देख रहे हैं। किन्तु राष्ट्रीय संकीर्णता के कारण इसकी पूर्ति में यथेष्ट सहयोग नहीं प्रदान करते।

नतीजा ? दो संसार-व्यापी भीषण महायुद्ध हो चुके। तीसरे भयानक महायुद्ध का भय सिर पर मँड़रा रहा है। इस परमाणु-बम के समय में यदि तीसरा महायुद्ध हुआ तो उसका क्या नतीजा होगा, सहज में सोचा जा सकता है—सभ्यता का नाश, मानव-समाज का महा-प्रलय ! महा अनर्थ !

इस भीषण परिणाम की ज़िम्मेदारी सभी राष्ट्रों पर होगी। परन्तु इसका प्रधान उत्तरदायित्व हम भारतीयों पर होगा। क्योंकि वर्त्तमान परिस्थिति में भारत-माता ही संसार के वास्तविक कल्याण की एक-मात्र आशा प्रतीत होती हैं।

अतः यदि आज हम इस महान् अवसर पर पिछड़ गये, तो हम बहुत घोर अनर्थ के भागी होंगे। सभ्यता तथा समस्त-मानव-समाज के जीवन-मरण का प्रश्न अभी सामने उपस्थित है। इसलिये आज हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि इस अवसर पर यथेष्ट कार्य कर इस विकट परिस्थिति के सँभलने में सहायक बनें !

---

३२. माता की मर्ज़ी ! मेरी नहीं !

इस विकट परिस्थिति को पार करने का एक ही उपाय है—भारत-माता की मर्ज़ी पर अपने-आपको हृदय से पूर्ण-रूपेण समर्पित कर देना ! इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं दीख पड़ता।

आज देश के अनेक अधिकारी-गण तथा अन्य व्यक्ति भारत-माता के यथेष्ट कल्याण की कोशिश में लगे हैं। सभी अवश्य चाहते हैं कि स्वतंत्र होकर हम अपनी निराली राष्ट्रीयता को व्यक्त कर तद्नुकूल चलें तथा कार्य करें।

किन्तु, क्या सभी यथेष्ट रूप से इस ओर बढ़ रहे हैं ? यह अत्यन्त विवादास्पद विषय है। अस्तु, बहुतों को तो आज स्वार्थ-परता ने ऐसा नीचे धर दबोचा है कि वास्तविक भारतीयता का व्यक्त करना तो दूर रहे, वे साधारण नैतिक स्तर से भी बहुत नीचे गिर गये हैं और गिरते जा रहे हैं। कैसे दुःख की बात है !

ऐसे लोगों को अभी छोड़िये। पर, जो सच्चे दिल से भारत-माता की उन्नति की चेष्टा में लगे हैं, वे भी क्या इसके लिये यथेष्ट प्रयास कर रहे हैं ? दुःख के साथ कहना पड़ेगा—"नहीं"। सद्भावना एवं सदभिलाषा से प्रेरित वे अवश्य हैं। किन्तु, बहुतों पर अभी पाश्चात्य संस्कारों की ऐसी गहरी छाप जमी है कि पाश्चात्य सिद्धान्तों को ही वे भारत-माता पर भी थोपने की कोशिश में लगे हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये, यह पहले बताया जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि भारतीयता का वास्तविक रूप समझे बिना इन विदेशीय आदर्शों अथवा सिद्धान्तों को अपनी राष्ट्रीयता पर थोपना भारी भूल है। अपने राष्ट्र को सांस्कृतिक पराधीनता में स्वेच्छा-पूर्वक जकड़ना है। अतः अपने

राष्ट्र एवं संसार के प्रति घोर अपमान तथा अहित करना है।

जो लोग देश की संस्कृति के अनुकूल राष्ट्रीय नव-निर्माण करना चाहते हैं, उन्हें भी बहुत सतर्क रहना आवश्यक है। उन्हें भली-भाँति देखना चाहिये कि जो वे करना चाहते हैं, वह कहाँ-तक वास्तविक भारतीयता के अनुकूल है और कहाँ तक उनकी अपनी मर्जी के अनुकूल। निजी भावना के बंधन से मुक्त होकर आगे बढ़ना हल्का काम नहीं। किन्तु, आज करना है यही।

यह हो कैसे ? इसका एक-मात्र उपाय है—अपनी इच्छा का भाव त्याग कर केवल भारत-माता की मर्जी के अनुकूल चलना। अतः कोई कार्य करने के पहले, किसी विषय पर अपना मत निश्चित करने के पहले, यह सोच लेना आवश्यक है कि "क्या यह निश्चय अथवा कार्य भारत-माता की मर्जी के अनुकूल है ?"

यदि खूब ग़ौर से सोचने पर वह अनुकूल प्रतीत हो, तो उसे अवश्य करना चाहिये। किन्तु, यदि वह अनुकूल न प्रतीत हो, तो अपने दृष्टि-कोण से, अपने विचार से, वह कितना ही अच्छा क्यों न लगता हो, हर हालत में उसका तात्कालिक परित्याग ही श्रेय है।

अतः हर हालत में हम सभी भारतीयों के जीवन तथा कार्य की एक-मात्र कसौटी हो—"माता की—मर्जी ! मेरी—नहीं !" तभी हमारी असली उन्नति होगी, हमारे देश का यथेष्ट उत्थान होगा, संसार का यथेष्ट कल्याण होगा; अन्यथा कदापि नहीं। अतः हर स्थिति में, हर समय, हर कार्य में, स्मरणीय आदर्श है—"माता की मर्जी ! मेरी नहीं !" भारत-माता की जय ! वन्दे मातरम् !

———

मुद्रक—बम्बई प्रिंटिंग काटेज, बाँसफाटक, बनारस।

लेखक द्वारा अन्य पुस्तकें

"बाल-विकास-माला"

पहला सेट -उत्तम आदर्श

१. रामजी और भरतजी
२. कृष्णजी और सुदामाजी
३. गौतमजी—हंस किसका ?
४. श्री रामजी और केवट
५. सीताजी और वन-वास
६. राजा हरिश्चन्द्रजी
७. भक्त प्रह्लादजी
८. बाल-कृष्ण की लीलाएँ
९. अचल ध्रुवजी
१०. बुद्ध भगवान् और चत्ता
११. } कृष्णजी की प्रेम-लीलाएँ
१२. } (पहला विशेषांक)

दूसरा सेट---धर्म-संस्थापक

१३. महर्षि वेद-व्यासजी
१४. श्री गौतम-बुद्धजी

"बाल-विकास-माला"

१५. श्री वर्द्धमान महावीरजी
१६. प्रभु यीशू मसीह
१७. श्री गुरु नानक-देवजी
१८. हजरत मुहम्मद साहब
१९. श्री महात्मा जरथुस्त्र
२०. श्री जगद्गुरु शंकराचार्य
२१. श्री रामानुजाचार्य
२२. श्री कृष्ण-चन्द्रजी
२३. } सर्व-धर्म-समन्वय
२४. } (दूसरा विशेषांक)

तीसरा सेट-आदर्श भारतीय वीर

२५. भीष्म पितामह
२६. धर्मराज युधिष्ठिर (आगे)
२७. वीरवर अर्जुन ,,
इत्यादि ।

"राष्ट्र-विकास-माला"

१. भारतीय संस्कृति
२. मैं भारतीय हूँ (आगे)
३. नागरिकता की महत्ता ,,
इत्यादि ।

"जीवन-विकास-माला"

१. मैं कौन हूँ
२. इन्द्रिय-निग्रह (आगे)
३. मन का संयम ,,
इत्यादि ।

"अन्य पुस्तकें"

१. धर्म ज्योति—अपने ढंग की निराली, ३रा सं०, पृष्ठ ३८४, मू० ४)।
२. साधन-चतुष्टय—साधन के लिये अनिवार्य, पृष्ठ ५६, मूल्य ||)।
३. सुख की अचूक कुञ्जी—बड़ी ही उपयोगी, पृष्ठ ९६, मूल्य १)।

व्यवस्थापक, नारायन प्रकाशन मन्दिर
थियोसॉफ़िकल सोसायटी, बनारस १ ।

हमारी मालाएँ

लेखक—श्री जगतनारायण, बी० एस्-सी०

१ "बाल-विकास-माला" इस सचित्र माला द्वारा सरल भाषा में सुन्दर उपदेश-प्रद कहानियों के रूप में ऐसी पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जाती हैं, जिनके पढ़ने से, मनोरंजन के साथ-साथ, हमारे देश के बच्चे तथा बच्चियों के हृदय में सद्भावनाए, सदभिलाषाएँ तथा भारतीय संस्कृति के सच्चे भाव जगाये जा सकें। प्रति साधारण अंक का मूल्य ।≤), विशेषांक का १), डाक-व्यय अलग; विशेषांक सहित १२ अंकों का चन्दा ४) पेशगी, डाक-व्यय सहित।

२. "राष्ट्र-विकास-माला"– इस माला द्वारा सरल भाषा में ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं. जिनसे राष्ट्रीयता के विभिन्न आवश्यक अंगों पर प्रकाश पड़ता है, जिनसे यह पता चलता है कि भारतवर्ष का कैसा मानदण्ड जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रहता आया है अर्थात् आदर्श भारतीयता से क्या अभिप्राय है। प्रति साधारण अंक का मूल्य ॥), विशेषांक का १।), डाक-व्यय अलग; विशेषांक सहित १२ अंकों का चन्दा ५।) पेशगी; डाक-व्यय सहित।

३. "जीवन-विकास-माला"–इस माला द्वारा सरल भाषा में ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं जिनसे जीवन के गूढ़ एवं गहन विषयों पर प्रकाश पड़ता है, जिनसे यह पता चलता है कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं. कहाँ जाना है, क्या हमें करना है, जीवन का लक्ष्य क्या है, कैसे उसकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि। मूल्य आदि "राष्ट्र-विकास-माला" जैसा।

नोट—हमारी सभी मालाओं के सभी अंक स्थायी मूल्य के हैं। प्रति मास हर माला का एक अंक निकालने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु, अनिवार्य कारणों से कभी देर भी हो सकती है। उस हालत में घबड़ाने की कोई बात नहीं। स्थायी ग्राहकों को पूरे सेट अवश्य दिये जाते हैं और दिये जायेंगे।

पत्र-व्यवहार तथा रुपये भेजने का पता—

"व्यवस्थापक, नारायण प्रकाशन मंदिर,
थियोसॉफ़िकल सोसायटी, बनारस।"

